अप्रेल १९९४ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

धर्म सनातन

जो कर्तव्य है वह धर्म है, जो अकर्तव्य है वह अधर्म। या यों कहें जो करणीय है वह धर्म है, जो अकरणीय है वह अधर्म। उन दिनों अकरणीय के लिए एक शब्द और प्रयोग में आता था –विनय। २६०० वर्ष के लंबे अंतराल में भाषा बदल जाती है, भाषा के शब्द बदल जाते हैं, शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। आज की हिंदी में विनय कहते हैं विनम्रता को। परंतु उन दिनों की जनभाषा में विनय कहते थे दूर रहने को, यानि वह अकुशल कर्म जिससे दूर रहा जाय, विरत रहा जाय। इसी अर्थ में भगवान बुद्ध की शिक्षा "धर्म और विनय" कहलाती थी। यानि वह शिक्षा जो बताती है कि क्या धर्म है? क्या विनय है? क्या धारण करने योग्य है? क्या दूर रखने योग्य है? क्या करणीय है? और क्या अकरणीय है?

निस्संदेह करणीय वह है जो हमें भी सुखी रखे, औरों को भी सुखी रखे। हमारा भी मंगल कल्याण करे, औरों का भी मंगल कल्याण करे। और अकरणीय वह है जो हमारी भी सुख-शांति भंग करे, औरों की भी सुख-शांति भंग करे। हमारा भी अमंगल करे औरों का भी अमंगल करे। इस कसौटी पर कस कर जो जो कर्म किए जांय वे धर्म और जिन-जिन कर्मों को त्यागा जाय वे विनय।

इसी समझावन में धर्म शब्द का अर्थ विशद हो गया। जो करणीय है उसका करना तो धर्म है ही, परंतु जो अकरणीय है उसका न करना भी धर्म है। यानि धर्म तो धर्म है ही, विनय भी धर्म है। धर्म के इस व्यापक अर्थ का प्रयोग करते हुए ही भगवान कहते हैं –

अकुसलानं धम्मानं विनयाय धम्मं देसेमि।

अकुशल चित्तवृत्तियों से दूर रहने के लिए मैं धर्म उपदेशता हूं।

अतः कुशल चित्तवृत्तियों का धारण भी धर्म और अकुशल चित्तवृत्तियों का निवारण भी धर्म। यह व्याख्या स्पष्ट होने पर धर्म का व्यावहारिक पक्ष स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

हम मनुष्य हैं। सामाजिक प्राणी हैं। हमें अनेकों के साथ रहना होता है। गृहस्थ हैं तो अपने स्वजनों-परिजनों के साथ ही नहीं बल्कि समाज के अन्य लोगों के साथ भी रहना होता है। गृहत्यागी संन्यासी है तो भी लोक संपर्क तो बनाए ही रखना होता है। औरों के साथ रहते हुए हम स्वयं कुशलतापूर्वक रह सकें तथा औरों की कुशलता में सहयोगी हो सकें, यही आदर्श मानवी जीवन है। इसे ध्यान में रखते हुए शरीर और वाणी से कोई भी ऐसा कर्म नहीं करें, जिससे औरों की सुख-शांति भंग हो, औरों का अकुशल हो, अमंगल हो। अतः हम १) हत्या नहीं करें। २) चोरी नहीं करें ३) व्यभिचार नहीं करें। ४) न झूठ बोल कर किसी को ठगें, न कटुक ठोर वचन बोल कर किसी का मन दुखाएं, न परनिंदा अथवा चुगलीभरी वाणी बोल कर व्यक्तियों का पारस्परिक मैत्रीभाव तुड़वा दें, ५) नशा पता न करें क्योंकि नशे पते के आधीन हो कर हम यह सोच समझ भी नहीं पाते कि क्या करणीय है और क्या अकरणीय?

शरीर और वाणी के इन पांच दुष्कर्मों से विरत रहने का उपदेश देते हुए यह समझाया गया कि जैसे किसी व्यक्ति द्वारा तुम्हारे प्रति किया गया ऐसा दुष्कर्म तुम्हें अच्छा नहीं लगता, वैसे ही तुम्हारे द्वारा दूसरों के प्रति किया गया ऐसा ही दुष्कर्म उन्हें कैसे अच्छा लगेगा? अतः औरों को अपने समान ही समझ कर कोई ऐसा काम नहीं करे जिससे कि उन्हें दुःख पहुँचे।

इसी को समझाने के लिए यह भी कहा गया कि किसी की हत्या करके, किसी की कोई प्रिय वस्तु चुरा कर या छीन कर, किसी के पति या पत्नी से व्यभिचार करके, किसी को असत्य भाषण द्वारा ठग कर, किसी को कड़वी वाणी, चुगली की वाणी, परनिंदा की वाणी बोल कर अथवा नशे पते के आधीन हो इन सारे अकरणीय कर्मों को करके जब तुम औरों की सुख-शांति भंग करते हो तो परिवार की सुख-शांति भंग करते हो, समाज की सुख-शांति भंग करते हो। तुम्हें इसी परिवार और समाज के साथ रहना है परंतु परिवार और समाज के ऐसे अशांत वातावरण में तुम कैसे सुख-शांति का जीवन जी सकोगे? परिवार और समाज की सुख-शांति के साथ ही तुम्हारी सुख-शांति जुड़ी हुई है। परिवार और समाज की सुख-शांति बनाए रखोगे तो उस सुखद-शांत वातावरण में तुम भी सुख-शांति महसूस करोगे। परिवार और समाज की सुख-शांति का हनन करोगे तो उस अशांत असुखद वातावरण में तुम भी अशांत और दुखी हो उठोगे।

अतः दुःशील दुराचरण से विरत रहना और शील सदाचरण का जीवन जीना धर्म है। धर्म की बुनियाद है। धर्म के लंबे मार्ग पर उठाया गया पहला कदम है। भगवान भिन्न-भिन्न युक्तियों द्वारा धर्म के इस आवश्यक प्रथम चरण की महत्ता और उपादेयता समझाते हैं। परंतु सब पर इस समझावन का असर इतना गहरा नहीं पड़ता। अतः धर्म के इस बुनियादी और महत्वपूर्ण अंग को और अधिक गहराइयों से समझाते हैं जिससे कि लोग स्वयं अपने हित के लिए ही इसके पालन में लग जांय।

संसार में और कोई भी अपने आप से अधिक प्रिय नहीं लगता। हर प्राणी स्वभावतः स्वप्रेमी होता है। हर प्राणी स्वभावतः स्वार्थी होता है। मनुष्य भी एक स्वार्थी प्राणी है। स्वार्थी होने में यानि अपना अर्थ सिद्ध कर लेने में कोई दोष नहीं है। परंतु हमें यह तो समझ लेना चाहिए कि हमारी वास्तविक अर्थसिद्धि किसमें है? किससे हमारा मंगल सधता है? यदि स्वार्थ साधने के फेर में हमने अपने सही स्वार्थों पर ही कुठाराघात कर दिया तो इससे बढ़कर नासमझी और क्या होगी?

अपना सही स्वार्थ समझने के लिए हमें अपने बारे में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करनी होती है और वह भी किसी से सुन कर नहीं और न ही मात्र किसी पुस्तक को पढ़ कर। हमें अपने बारे में सही जानकारी अपने निजी अनुभव से करनी होती है। भगवान ने इसी लिए विपश्यना साधना का अभ्यास करना सिखाया। इस अभ्यास द्वारा अपने बारे में जानते-जानते हम अपनी समस्याओं के बारे में जानने लगते हैं और उनका उचित समाधान पाने लगते हैं। अपने दुःखों का, अपने संतापों का सरलता से निराकरण करने लगते हैं।

यह सब विपश्यना साधना के अभ्यास द्वारा किए गए आत्मदर्शन से फलीभूत होता है। इतिहास के लंबे बहाव में सदियां बीतते-बीतते यह आत्मदर्शन शब्द भी अपना सही अर्थ खो बैठा। आज आत्मदर्शन कहते हैं अपने भीतर किसी काल्पनिक आत्मा के दर्शन को। उन दिनों 'आत्म' शब्द का एक बहुप्रचलित सीधा सरल अर्थ था –'स्व'। अतः आत्मदर्शन माने स्वदर्शन, माने अपने बारे में जो सच्चाई है उसे अनुभूति के स्तर पर जानते हुए उसका यथाभूत दर्शन।

स्वदर्शन की इस साधना का पथ बहुत लंबा है, बहुत श्रमसाध्य है। परंतु पथ पर चलना आरंभ कर दें तो अपने बारे में कुछ एक मूलभूत सच्चाइयां शीघ्र ही प्रकट होने लगती हैं। साधक देखता है कि शरीर और वाणी के हर कर्म का उद्गम मन है। कोई अच्छी या बुरी चेतना पहले मन में उपजती है। तदनंतर वह वाचिक कर्म या कायिक कर्म के रूप में प्रकट होती है। मन की अच्छी चेतना का आधार हो तो वाणी या शरीर से किया गया कर्म, सत्कर्म ही होगा और यदि बुरी चेतना का आधार हो तो वह दुष्कर्म ही होगा। अतः इस बात की जानकारी बहुत स्पष्ट होने लगती है कि मन ही प्रमुख है, मन ही प्रधान है, मन ही सारे कर्मों का अगुआ है।

साधक को यह तथ्य भी बहुत स्पष्ट ज्ञात होने लगता है कि पहले क्रोध, कोप, द्रोह, द्वेष, दुर्भावना जैसे विकार मन में जागते हैं तब शरीर से किसी की हत्या की जाती है। चोरी करने के पहले लोभ और व्यभिचार करने के पहले मन में वासना का विकार जागता है। झूठ बोलने के पहले मन में भय, लोभ अथवा अहंकार जैसा कोई विकार जागता है। नशापता करने के पहले मन में आसक्ति जागती है। अतः यह स्पष्ट है कि कायिक या वाचिक दुष्कर्म पीछे होता है, पहले मानसिक दुष्कर्म होता है। स्वानुभूति से साधक यह भी जानने लगता है कि मन में जैसे ही कोई विकार जागता है, चाहे क्रोध जागे या लोभ, चाहे वासना जागे या अन्य कोई विकार, मन तत्काल अपनी समता खो देता है, अपनी शांति खो देता है। मन अशांत हो जाता है, व्याकुल हो जाता है। तो यह बात स्वानुभूति के स्तर पर स्पष्ट होती जाती है कि हत्या, चोरी, व्यभिचार, मिथ्या भाषण और नशेपते का सेवन कर हम औरों को जो हानि पहुँचाते हैं, उसके पहले मनोविकार जगा कर अपने आप को हानि पहुँचाने लगते हैं।

तब यह उपदेशों से यानि परोक्ष ज्ञान से नहीं, बल्कि प्रज्ञा से यानि प्रत्यक्ष ज्ञान से समझ में आने लगता है कि शील सदाचार के नियमों को तोड़ कर हम पहले अपनी सुख-शांति का हनन करते हैं और उसके बाद ही किसी अन्य को पीड़ा पहुँचा कर उसकी सुख-शांति का हनन करते हैं। और तभी यह भी समझ में आने लगता है कि शील सदाचार का पालन करके, शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से विरत रह कर हम किसी अन्य प्राणी पर कोई एहसान नहीं करते। वस्तुतः हम अपने आप पर ही एहसान करते हैं। अतः शील सदाचार का जीवन जीना औरों के हित में ही नहीं, बल्कि हमारे अपने हित में भी आवश्यक है, अनिवार्य है। यही धर्म है, सार्वजनीन धर्म है। यही ऋत है, निसर्ग-नियामता है।

इस नियम को तोड़ने पर निसर्ग हमें तत्क्षण दंड देती है। हम बेचैन और व्याकुल हो जाते हैं। धर्म का यह नैसर्गिक नियम केवल हिंदुओं पर या केवल बौद्धों पर अथवा केवल ब्राह्मणों पर या केवल शूद्रों पर ही लागू नहीं होता, सब पर लागू होता है। अतः धर्म न हिंदू है, न बौद्ध। धर्म, धर्म है। सार्वजनीन है। निसर्ग का यह नियम केवल इसी वर्तमान काल में सब पर लागू नहीं होता, पूर्व काल में भी लागू होता था और भविष्य में भी सब पर समान रूप से लागू होगा। अतः यह सार्वकालिक है, सनातन है। धर्म सार्वजनीन है। धर्म सनातन है।

अच्छा हो, यदि हम इस शुद्ध सनातन धर्म को हिंदू, बौद्ध, जैन, सिक्ख, मुस्लिम, ईसाई आदि नामों से न पुकारें। शुद्ध धर्म को इन साम्प्रदायिक विशेषणों से मुक्त रखें; जाति, गोत्र, कुल, वंश और सर्वअहितकारिणी वर्ण-विभाजक व्यवस्था से मुक्त रखें जिससे कि मनुष्य-मनुष्य के पारस्परिक स्नेह-सौमनस्यता के बीच धर्म के नाम पर कोई दरार न पड़ने पाए। इसी में सब का मंगल है, इसी में सब का कल्याण है।

कल्याणमित्र,
स. ना. गो.